श्रीदक्षिणा मूर्ति ग्रन्थ-माला चार

मनोषा-पंचक

शंकर मठ

श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य महामण्डलेश्वर

महेशानन्द गिरि महाराज

प्रकाशक :
दक्षिणा मूर्ति मठ, काशी

सर्वाधिकार सुरक्षित

मूल्य :

मुद्रक :
उद्योगशाला प्रेस, किंग्सवे, दिल्ली—९

मनीषा-पञ्चक

एक बार आचार्य शंकर काशी में गंगा-स्नान करके विश्वनाथ के दर्शन के लिये जा रहे थे। उनकी तत्वनिष्ठा को प्रकाशित करने के लिये उनके ही इष्टदेव साम्ब सदाशिव चाण्डाल का वेश धारण करके रास्ते में खड़े थे। गली छोटी थी अतः आचार्य ने इनसे 'चलो चलो' कहा। **अन्त्यवेषधरं दृष्ट्वा 'गच्छ गच्छ' इति चाब्रवीत्। शंकरःसोऽपि चाण्डालः तं पुनः प्राह शंकरम्॥** भगवान् साम्ब सदाशिव ने हँस कर उनसे प्रश्न किया।

अन्नमयादन्नमयमथवा चैतन्यमेव चैतन्यात्।
द्विजवर! दूरीकर्तुं वाञ्छसि किं ब्रूहि गच्छ गच्छेति॥

अन्नमय से अन्नमय को अथवा चैतन्य से चैतन्य को आप दूर करना चाहते हैं, जिस निमित्त से, हे श्रेष्ठ ब्राह्मण! आपने जाओ, जाओ कहा।

अद्यते अनुभूयन्ते इति अन्नम्। जो कुछ भी इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किया जाता है वह पञ्च महाभूतों का कार्य होने से पंच महाभूत ही अन्न शब्द का वाच्य हैं। **अदन्ति यच्चभूतानि तस्मादन्नं तदुच्यते,** के द्वारा कोष ने यही कहा है। महाभूतों का विकार होने से ही शरीर को अन्न का विकार अर्थात् अन्नमय कहा जाता है। पंच महाभूतों से उत्पन्न देह-मात्र एक दूसरों से अभिन्न ही हैं। चाण्डालत्व जाति-विशिष्ट-महाभूतपिण्ड एवं विप्रत्व जाति-विशिष्ट महाभूत पिण्ड विशेषणों के भेद-मात्र से भिन्न नहीं कहे जा सकते। नैयायिकों का **'विशिष्टो शुद्धान्नातिरिच्यते'** न्याय भी इसमें प्रमाण है। अतः एक ही प्रकार के पदार्थों को एक दूसरे से अलग करना प्रयोजन-रहित है। तात्पर्य है कि आपका भाव शरीर को हटाने का नहीं हो सकता।

यद्यपि आप द्विजवर हैं, तथापि संस्कारों के द्वारा शरीर में द्विजत्वाधान मानना सम्भव नहीं। द्विज अर्थात् वेदाध्यायाधिकार रूपी यज्ञोपवीत सम्पन्न। इस संस्कार से शरीर की उत्पत्ति कोई भी वादी नहीं मान सकता। किंच आप द्विजों में वर, अर्थात् वर आश्रमी संन्यासी हैं। और परमहंस संन्यासी अपने वर्णाभिमान को छोड़ देता है, यद्यपि उसमें अन्य प्रयुक्त वर्णत्व रहे। अतः आपके लिये, वर्णाभिमान रहित होने के कारण, चाण्डाल से स्वदेह को भिन्न मानना और भी अनुचित है। वस्तुतः तो देहमात्र ही आत्मा के द्वारा अस्पृष्टव्य होने से चाण्डाल ही हैं। जब आप अपने देह से ही अस्पृष्ट हैं तबतो आपके देह द्वारा स्पृष्ट चाण्डाल देह का स्पर्श परम्परा से भी आपको प्राप्त नहीं हो सकता। तत्त्वतः देह मात्र का पार्थिवांश पृथ्वी के द्वारा देह मात्रों से सम्बन्धित है। इसी प्रकार देह मात्र का वायु, जल, तेज और आकाश सब देहों से संलग्न है। विचारकों की दृष्टि में तो अखण्ड भूत-राशि में स्थित प्रत्येक देह केवल एक भँवर मात्र है। एवं देह के महाभूत निरन्तर देहान्तरों में सञ्चरित होते रहने से उनके किसी भी अंश में स्पर्शास्पर्श का विचार असम्भव है। दैहिक स्पर्शास्पर्शादि परम्परा अन्धपरम्परा मात्र ही माननी पड़ती है। **'ब्रह्मजाः ब्राह्मणास्सर्वे कर्मणा वर्णतां गताः'** के द्वारा महाभारत में भगवान् वेदव्यास ने ब्रह्मा से उत्पन्न होने के कारण एवं वस्तुतः ब्रह्म में उत्पन्न व लीन होने के कारण आदि और अन्त में सभी को ब्राह्मण स्वीकार किया है। सृष्टि संरक्षार्थ भिन्न-भिन्न कार्यों में नियोग होने के कारण वर्णभेद की स्वीकृति है। बृहदारण्यकोपनिषद् भी सृष्टि प्रक्रिया में प्रथम ब्राह्मण की उत्पत्ति बताकर उससे दण्डार्हों को दण्ड न मिलने से सृष्टि व्यतिक्रम को बचाने के लिये क्षत्रिय की, एवं धन के अभाव में इन दोनों के द्वारा भी काम न चलने पर वैश्य की, एवं शरीर-श्रम के बिना धन की प्राप्ति असम्भव होने से शूद्र की उत्पत्ति बताता है। अन्त में पुनः उपसंहार काल में **'अथ ब्राह्मणः'** से सबके ब्राह्मणत्व का प्रतिपादन करता है। आदि और अन्त में जो रहता है वही सत्य है। मध्य में भान होने वाला मिथ्या होता है। अतः वर्णप्रभेद वस्तुतः वेदों में मिथ्या

ही स्वीकार किया गया है। मिथ्यात्व जाति से प्रयुक्त होने से भी अन्नमय को अन्नमय से अलग करना व्यर्थ है।

अनात्म रूपी देह का दूरीकरण असम्भव है तो चैतन्य का दूरीकरण ही इष्ट होगा। इस शंका को दूर करने के लिये चैतन्य से दूरीकरण भी असम्भव है ऐसा साम्ब सदाशिव का कथन है। अद्वितीय चेतन में अनेक व्यक्तियों की असम्भावना है। वेदान्ती के लिये अनेक चैतन्यों को स्वीकार करना तो सिद्धान्त-विरुद्ध हो जायेगा। न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा में किसी भी आस्तिक दर्शनकार ने आत्मा को अव्यापक स्वीकार नहीं किया है। जैन, बौद्ध आदि नास्तिकों ने एवं वैष्णवादि अर्ध नास्तिकों ने यद्यपि आत्मा को देह परिमाणी या अणुपरिमाणी स्वीकृत किया है, परन्तु उनके मतों को आप द्विज होने के कारण स्वीकार नहीं कर सकते। अतः सभी आस्तिकों के मत से, सर्वव्यापक होने के कारण, चेतन आत्मा को दूर करना असम्भव है। फिर दूसरी चेतन आत्मा से दूर करने की तो बात ही क्या ? वेदान्त-सिद्धांत में तो प्रमाणाभाव से एक ही आत्मा स्वीकृत होने के कारण आत्मा को दूर हटने के लिये कहना और भी असम्भव है। इस प्रकार आचार्य का किसी के स्पर्श से बचने के लिए दूर करने के लिए कहना असम्भव सिद्ध होता है।

यदि कहा जाय कि सूक्ष्म देह को जाति-विशिष्ट माना जाय तो यह भी असम्भव है, क्योंकि प्रलय-पर्यन्त सूक्ष्म देह एक ही रहने के कारण कर्म-फल से अनेक योनियों में जाना असम्भव हो जायेगा। अन्तःकरण का स्पर्श तो अपवित्रता का हेतु कोई भी आस्तिक नहीं मानता। अन्यथा किसी चाण्डाल को देखने मात्र से दोष की प्राप्ति हो जायेगी ; एवं चाण्डाल द्वारा दृष्ट मात्र पदार्थ में चाण्डाल स्पर्श हो जाने से पुनः उसी पदार्थ का दर्शन सभी को अपवित्र बनाता रहेगा। अतः अन्न रूपी महाभूतों का कार्य होने से अन्नमय शब्दसे यहाँ स्थूल देह के साथ सूक्ष्म देह भी संग्राह्य है। कारण देह में तो भेदक के सर्वथा अभाव से ईश्वर-लीनता ही स्वीकृत है। अतः श्रुति ने वहाँ पर भ्रातृहा

अभ्रातृहा भवति, भ्रूणहा-अभ्रूणहा भवति, आदि से सर्व पाप-निवृत्ति" बताई है। कारण देह में स्पर्शास्पर्श की अत्यन्त अप्राप्ति होने से यहाँ उसका निषेध नहीं किया गया।

कोई भी वाक्य मन से विचार करके ही बोला जा सकता है। 'यथा संकल्पयति वाचा वदति' आदि इसमें प्रमाण हैं। अतः पूछा जा रहा है कि आप किसको दूर करने की इच्छा से 'जाओ जाओ' का प्रयोग कर रहे हैं। यहाँ "किस" को प्रश्न में नहीं वरन् आक्षेप में समझना चाहिए।

(२)

वेदान्त ही में एक चैतन्य स्वीकृत है, अतः उपर्युक्त दोष सम्भव हैं। परन्तु व्यवहार दशा में उपाधि भेद स्वीकार किया जाता है। उस दृष्टि से 'जाओ, जाओ' कहना बन सकता है। उपाधि में प्रतिबिम्ब या अवच्छिन्न होता है। वेदान्तों में आकाशवत् सर्वव्यापक आत्मा को उपाधि से भिन्न स्वीकार करने में घटाकाश, मठाकाश, करकाकाश आदि साधक दृष्टान्त हैं। इसी प्रकार स्वयं प्रकाश चैतन्य में अनेकता की सिद्धि करने के लिए जल में, दर्पण में, तैल में प्रतिबिम्ब के दृष्टान्त हैं। जिस प्रकार एक कमरे में धुँआ भर जाने पर वहाँ के मच्छर नष्ट हो जाते हैं परन्तु पास के कमरे के नहीं, इस प्रकार एक साथ ही निर्देश एवं सदंश आकाश उपलब्ध होता है। यद्यपि आकाश एक और अखण्ड है तथापि उपाधि भेद से उपाधि-विशिष्ट में भेद आ जाता है। अथवा दर्पण में सूर्य का प्रतिबिम्ब स्थिर होने पर भी चंचल जल में अस्थिर प्रतीत होता है। यहाँ भी उपाधि भेद से भेद है। इसी प्रकार द्विजत्व देह-विशिष्ट अन्तःकरण उपाधि प्रतिबिम्बित चैतन्य के द्वारा 'जाओ, जाओ' कहना बन सकता है। तात्पर्य है, स्थूल देह एवं सूक्ष्म देह उभय जाति विशिष्ट चैतन्य यहाँ इष्ट है। इस शंका का उत्तर भगवान् साम्ब सदाशिव देते हैं।

किं गंगाम्बुनि बिम्बितेम्बरमणौ चण्डाल-वाटी-पयः-
पूरे वान्तरमस्ति काञ्चन-घटी-मृत्कुम्भयोर्वाम्बरे ॥
प्रत्यग्वस्तुनि निस्तरंग-सहजानन्दावबोधाम्बुधौ।
विप्रोयं श्वपचोयमित्यपि महान् कोऽयं विभेदभ्रमः ॥

क्या गंगा-जल में एवं चाण्डाल के गन्दे नाले में प्रतिबिम्बित होने पर सूर्य में कोई भेद आता है ? अथवा सोने के घड़े एवं मिट्टी के घड़े से परिच्छिन्न आकाश में कोई फरक पड़ता है। यदि नहीं तो प्रत्यगात्मा, जिसमें माया के द्वारा किसी भी लहर का उठना असम्भव है, उस सहज ज्ञानानन्द समुद्र में 'यह ब्राह्मण है और यह चाण्डाल' इस प्रकार के भेद का भ्रम आप जैसे ब्रह्मनिष्ठ में कहाँ से उत्पन्न हो गया ?

अत्यन्त पवित्र गंगाजल जो अनन्त जन्मों के किये हुए अपरिमित पापों को स्पर्श-मात्र से नष्ट करने में समर्थ है, जिसके लवकण को पान करने के लिये देवगण भी तरसते रहते हैं एवं जो तीनों लोकों में विद्यमान है, जिसकी स्वर्लोकस्थ महत्ता को पाने में आज के वैज्ञानिक भी सर्वथा असमर्थ हो गये हैं, ऐसी महती उपाधिवाली गंगा में पड़ने से अन्तरिक्ष के स्वप्रकाश उद्दीप्त मणि में किसी विशेषता की प्राप्ति स्वीकार नहीं की जा सकती। और न क्रोध-मूर्ति अर्थात् चाण्डाल की अत्यन्त घृणित रक्त-वसा-मज्जा आदि से पूर्ण गन्दी नाली में प्रविष्ट होने से दुर्गन्ध आदि से कोई हीनता ही सम्भव है। यहां भी 'क्या' का प्रयोग आक्षेप में ही समझना चाहिये। वस्तुतस्तु अम्बर का अर्थ यदि चिदम्बर किया जाय तो अम्बर-मणि शुद्ध, निर्विकार, आनन्दघन, सदा शिव ही हैं। गंगा अर्थात् ज्ञान। ब्रह्माकार वृत्ति के पूततम प्रवाह में प्रतिफलित होने से शिव में कोई विशेषता स्वीकार नहीं की जा सकती। तात्पर्य है कि ब्राह्मण में प्रतिबिम्बित होकर चैतन्य अविशिष्ट ही रहता है। इस प्रकार प्रतिबिम्ब दृष्टान्त का तात्पर्य भेद के निषेध मे है। चण्ड अर्थात् क्रोध। क्रोध का आधिक्य होने से ही चाण्डाल कहा जाता है। अत्यन्त क्रोध का जो वाटी अर्थात् रास्ता उसके प्रवाह में पड़ने से भी शिव में कोई भेद नहीं आता। क्रोध वृत्ति घोर वृत्ति है। बन्धन की यह चरमावस्था

है। इन घोर वृत्तियों के प्रवाह में भी शिव की निर्विकारता अक्षुण्ण ही बनी रहती है। विचार दृष्टि से बन्धन और मोक्ष दोनों ही एक से अध्यस्त हैं। अतः दोनों समान रूप से अधिष्ठान शिव में कोई भी परिवर्तन लाने में असमर्थ हैं। यद्यपि मूढ़-बुद्धिप्रतिबिम्ब के दोषों को बिम्ब में आरोपित करते हैं परन्तु उससे बिम्ब में कोई फरक नहीं आता। तरह-तरह के दर्पणों में स्वदेह को अतिस्थूल, अतिक्षीण, अति लम्ब या अतिवामन देख कर मूढ़ उसमें सुख-दुःख को प्राप्त होता रहता है परन्तु विवेकी उससे आनन्द लेता है। इस प्रकार प्रतिबिम्ब विशिष्ट बिम्ब में निर्विकारता का प्रतिपादन करके अवच्छेदक विशिष्ट अवच्छिन्न में भी उसी का प्रतिपादन करने के लिये स्वर्ण एवं मिट्टी का दृष्टान्त दिया। सोना अत्यन्त शुद्ध है एवं स्मृतियों के अनुसार सोने के गिलास इत्यादि में पानी पीने पर भी वह जूठा नहीं होता। इस प्रकार अतिशुद्ध अन्तः करणों में भी किसी प्रकार का दोष नहीं आता। मिट्टी सबसे अधिक अशुद्ध मानी जाती है। एक बार भी मिट्टी के बर्तन मे खा-पी लेने पर उसको शुद्ध करने का कोई उपाय नहीं। स्मृतियों के अनुसार तो स्वयं अपना जूठा मिट्टी का वर्तन भी गृहस्थ के लिये त्याज्य हो जाता है। इस प्रकार स्वर्ण सदा शुद्ध और मृत्तिका सर्वदा अशुद्ध है। परन्तु स्वर्ण के घड़े के भीतर वाली खाली जगह मिट्टी के घड़े के भीतर वाली खाली जगह की अपेक्षा अधिक शुद्ध नहीं मानी जा सकती। यदि ऐसा माना जायगा तो जहां एक बार जूठे घड़े के द्वारा अवच्छिन्न आकाश हो गया वह नित्य ही अस्पृश्य हो जायगा। फिर तो उस घड़े को फोड़ देने पर भी उस घड़े में आने वाली जगह अपवित्र ही बनी रह जायगी। परन्तु मेहतर के द्वारा घड़े में भरकर मल को सड़क पर से ले जाने के बाद उस सड़क रूपी आकाश को कोई भी स्मृतिकार अथवा लौकिक शिष्ट अशुद्ध नहीं मानते। यह इस बात को सिद्ध करता है कि अवच्छेदक के दोष से अवच्छिन्न दुष्ट नहीं होता। इसी प्रकार अन्तःकरण के काम-क्रोधादि विकारों से भर जाने पर भी उससे अवच्छिन्न शिव वैसा ही शुद्ध बना रहता है जैसा शुद्ध सत्त्व ब्रह्मनिष्ठ के अन्तःकरण में।

जब यह आन्तरिक उपाधि ही उसे अशुद्ध नहीं कर सकती तो मलावलिप्त मेहतर की शरीर रूपी बाह्यउपाधि एवं भस्मावच्छिन्न विप्र की देहोपाधि से उसमें कहां से फरक आ सकता है? इस प्रकार भगवान् साम्ब सदाशिव यहां वेद में प्रसिद्ध दोनों उपाधियों से प्राप्त दोषों का निराकरण करते हैं। यह दोष-गुण से अविकृत रहना विद्वत् और अविद्वत् दोनों को समान रूप से अनुभव होता है **'प्रतिबिम्बत्वेन अवच्छिन्नत्वेन वा न भेद गन्ध-व्यवहार भेदस्य उपाधि परामर्शमन्तरेण अविभाव्यमानत्वात्। रविबिम्बवत् घटाकाशवत् वा।'** यह अनुमान यहां अनुसन्धेय है। इस प्रकार विचार किये बिना सिद्ध जीव भाव में जाति की वास्तविकता विचार करने पर सिद्ध नहीं हो पाती, फिर आप जैसे अतिविचार शक्ति से सम्पन्न के द्वारा विचारहीनों की तरह "जाओ जाओ" कहना कैसे शोभा दे सकता है यह भाव हैं। इसमें **"यत्रत्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् केन कं पश्येत्"** (बृ० आ०) जिस अवस्था में सब कुछ आत्मस्वरूप हो जाता है वहां कौन किसको देखे, आदि यजुर्वेद प्रमाण है।

शंका हो सकती है कि दृष्टान्त में उपाधि वालों की उपाधि-रहित दृष्टि से भिन्नता न होने पर भी उपाधियों का भेद तो सम्भव है। तात्पर्य हुआ कि स्वर्ण घट वाले आकाश एवं मिट्टी के घटवाले आकाश में अभेद होने पर भी स्वर्ण के घट और मिट्टी के घट में तो भेद मानना ही चाहिये। अथवा आर्यावर्त के पुण्य क्षेत्र में अतिपावनी गंगा का जल एवं महापापमय गन्दी नाली का जल तो आपस में भिन्न हो सकते हैं। इसी प्रकार विप्रत्व एवं चाण्डालत्व जातिविशिष्ट जो स्थूल देह, एवं उनमें स्थित क्रोधादि संस्कार विशिष्ट तथा वेदादि संस्कार विशिष्ट अन्तःकरणों का भेद स्वीकर्तव्य है। इससे विप्रत्व जातिविशिष्ट देह एवं वेद-संस्कार-विशिष्ट अन्तःकरण के द्वारा चाण्डालत्व जाति-विशिष्ट देह एवं उसमें क्रोधादि संस्कार-विशिष्ट-अन्तःकरण के प्रति दूरीकरण की इच्छा ठीक मानी जानी चाहिये। इस शंका का जवाब भगवान् साम्ब सदाशिव दूसरी पंक्ति से देते हैं।

तरंगों के उठे बिना जल में भेद प्रतीति असम्भव है। इसी प्रकार अध्यस्त प्रपंच से सर्वथा रहित अधिष्ठान परम शिव में किसी प्रकार

का भेद सम्भव नहीं। परमात्मानुभव के पश्चात् न कोई अन्य अध्यस्त वस्तु ही रहती है, और न उसका ज्ञान ही। भगवान् सुरेश्वराचार्यों के शब्दों में 'अविद्या सह कार्यादि नासीदस्तिर्भविष्यति'। न अविद्या, एवं न उसका कार्य अन्तःकरणादि हो रह जाते हैं। एवं न उनकी स्मृति या भविष्य की सम्भावना ही रह जाती है। दृष्टान्त में घट एवं स्वर्ण आकाश से समान सत्ता वाले हैं। परन्तु दार्ष्टान्ति में शिव और जीव-जगत् प्रपंच भिन्न सत्ता वाले हैं। अतः अधिष्ठान ज्ञान से जब अध्यस्त की निवृत्ति होती है तब न केवल उपाधिविशिष्टों में ही एकता का अनुभव होता है वरन् उपाधियों का भी बाध हो जाता है। अतः उपाधियों की दृष्टि से भी "जाओ, जाओ" कहना नहीं बन सकता। प्रत्यक् अर्थात् **'प्रातिलोम्येन अंचति'** मिथ्या-अध्यस्त जीव-जगत् रूपी सर्व प्रपञ्च से विलक्षण हो करके जो प्रकाशता है वही प्रत्यक् कहा जाता है। अतः जो प्रत्यक् वस्तु प्रपञ्च मात्र में अनुस्यूत त्रिविध भेद रहित होकर प्रकाशित होती है वही परमात्मा है। **अनध्यस्तात्म स्वभाववत्वेसति कल्पितपशुपाशसमस्तवस्तुस्त्वधिष्ठान भूतः आत्मा।** यही लक्षण यहां अनुसन्धेय है।

सारे प्रपंच रूप तरंगों से शून्य होने पर भेद रहितत्व ही उसकी सहजावस्था होने से द्वितीय के अभाव से परमस्वातंत्र्य रूप ज्ञानानन्द ही उस प्रत्यगात्मा का अनन्त रूप है। आनन्द और ज्ञान यहां सापेक्ष नहीं वरन् निरपेक्ष समझना चाहिये। अर्थात् जैसे सांसारिक आनन्द वस्तु, इन्द्रिय, अन्तःकरण, उसके संस्कार, भोग सामर्थ्य, प्रतिबन्ध का भाव आदि की अपेक्षा रखता है वैसी अपेक्षा ब्रह्मानन्द में न होने के कारण ही वह निरपेक्ष अर्थात् सहज है। विचार दृष्ट्या परतंत्रता एवं द्वैतानुभूति ही आनन्द का प्रतिबन्धक है। द्वैताभाव से पारतंत्र्याभाव तो सुस्पष्ट है। अतः स्वातंत्र्य व आनन्द पदार्थान्तर नहीं हैं। इसी प्रकार अवबोध या ज्ञान भी लोक में प्रमाण-प्रमेय-प्रमातृ सापेक्ष्य होता है। द्वैताभाव से ब्रह्मरूपी ज्ञान इन तीनों से रहित है अतःनिरपेक्ष है। इसी लिये उसका ज्ञान कभी हटता नहीं। 'मैं अज्ञानी हूँ' इसको भी जो ज्ञान रूप से प्रकाशित करता है, अर्थात् अज्ञान का भी जो प्रकाशक

है वही निरपेक्ष ज्ञान है। अम्बुधि जैसे सीमा रहित होता है वैसे ही ब्रह्म को असीम बताने के लिये यहां इस शब्द को ग्रहण किया गया है। तात्पर्य हुआ कि सर्व उपाधि रूप अध्यस्त प्रपंच से रहित निरपेक्ष आनन्द रूपी अधिष्ठान को अपना स्वरूप अनुभव कर लेने पर 'यह विप्र एवं यह चाण्डाल है' ऐसी इयत्ता परिच्छेदक अनुभूति असम्भव है। फिर आपको यदि ऐसी प्रतीति है तो भेदक प्रत्यय की सत्ता होने से वास्तविक ज्ञान नहीं है। अन्यथा श्रुतियों में प्रतिपादित नेति नेति वाक्य अप्रमाण हो जायेंगे।

(३)

भगवान् शंकर इसप्र कार की उक्ति को सुनकर आश्चर्य-चकित रह गये; एवं उनको निश्चय हो गया कि या तो भगवान् साम्ब सदाशिव ही स्वयं चाण्डाल वेष धर के यह प्रश्न कर रहे हैं, अथवा अत्यन्त पुण्यों के फलस्वरूप यह कोई चाण्डाल ही ब्रह्मविद्वरिष्ठ बनकर शिव स्वरूप हो गया है। अतः प्रारब्ध द्वारा समय-समय पर द्वैत प्रतीति के होने पर भी जीवन्मुक्त का स्वानुभव उस द्वैत प्रतीति को भी आत्म-रूपेण ही स्वायत्त करने के कारण क्षणमात्र को भी चलित नहीं होता, इसे बताने के लिये चारों वेदों के तात्पर्यभूत चारों महावाक्यों का अनुसन्धान करते हुए उनमें प्रतिष्ठित स्वानुभूति का निरूपण करते हैं। तात्पर्य है कि पारमार्थिक दृष्टि का अवलम्बन करके प्रश्न करने वाला तारकोपदेष्टा महादेव पूर्णपुरुष विश्वेश्वर ही होता है। एवं वहां हमें चाण्डालादिक प्रतीति अभिप्रेत नहीं है।

'प्रज्ञानं ब्रह्म' रूपी ऋग्वेद के तात्पर्य का प्रतिपादन करते हुए भगवान् शंकर का यह साम्बसदाशिव को प्रत्युत्तर है।

जाग्रत्स्वप्न-सुषुप्तिषु स्फुटतरा या संविदुज्जृंभते
या ब्रह्मादि-पिपीलिकान्ततनुषु प्रोता जगत्साक्षिणी।
सैवाऽहं न च दृश्यवस्त्विति दृढ़ा प्रज्ञापि यस्यास्ति चेत्
चाण्डालोऽस्तु स तु द्विजोस्तु गुरुरित्येषा मनीषा मम ।।

जो ज्ञान जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति में स्पष्ट रूप से विस्तृत होता है,

एवं ब्रह्मा से लेकर चींटी के शरीरों में एक जैसा पिरोया हुआ रह कर सारे जगत का साक्षी है, वही ज्ञान मैं हूँ, शरीरादि दृश्य वस्तु नहीं। ऐसी दृढ़ प्रज्ञा जिस किसी की भी हो वह चाहे चाण्डाल देह में हो अथवा विप्र देह में हो मेरा गुरु ही है। यह मेरा दृढ़ निश्चय है।

विचारशील जानते हैं कि आत्मा एक ही है। उसने अपने आप को भ्रान्ति से अनेक उपाधि वाला मान रखा है। अतः अनेकता-भ्रम की निवृत्ति हो जाने पर एक ही आत्मा रहने के कारण एक ही आत्मज्ञानी सम्भव है। उस आत्मज्ञानी को हम जहाँ सर्व प्रथम पहचानते हैं, वही गुरु है। आत्मज्ञानी एक ही होने के कारण बाद में जहाँ कहीं आत्मज्ञान की प्रतीति होती है उसमें गुरु की ही प्रत्यभिज्ञा सम्भव है। लोक में भी प्रतीत होता है कि जिस व्यक्ति को पहले अध्यापक के रूप में मिल लेते हैं उसे अपना जामाता बनाने पर भी अध्यापक की प्रत्यभिज्ञा बनी ही रहती है। अथवा विवाह काल में पत्नी रूप से ग्रहण कर लेने पर उसे गर्भवती, पुत्रवती, पौत्रवती एवं युवा, प्रौढ़ा, वृद्धा, तथा कृशा, स्थूला, क्षीणा आदि रूप में देखने पर भी पत्नी की प्रत्यभिज्ञा बनी ही रहती है। इसी प्रकार स्थूल-सूक्ष्म देहों के परिवर्तित होते रहने पर भी गुरु की प्रत्यभिज्ञा सम्भव है। यहाँ भगवान् शंकर ने आत्मा से अभेद न दिखला कर गुरु से अभेद बतलाते हुए जीवन्मुक्ति काल में व्यवहार अर्थात् शब्द-अर्थ-प्रयोग को सम्भव सिद्ध कर दिया। यद्यपि जीवन्मुक्त ईश्वर, गुरु और आत्मा में अभेद देखता है तथापि मैं शब्द के प्रयोग से मन्द बुद्धि लोग उससे देह या अतःकरण की वृत्ति को भ्रान्ति से ग्रहण कर लेते हैं। अतः गुरुशब्दत्वेन उसके अभिधान से इस सम्भावना को हटा दिया। **'नमो ब्रह्मिष्ठाय'** इत्यादि महर्षि याज्ञवल्क्य के वचन इसमें प्रमाण हैं। अन्यत्र भी भगवान् भाष्यकार **'तस्मै श्री-गुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये'** कह कर यही बात ध्वनित करते हैं। अनुभूति की दृष्टि से जिसको पहले ईश्वर रूप से अनुभव किया जाता है, उसी को पुनः गुरु रूप से, एवं अन्त में आत्मा रूप से जाना जाता है।

प्रज्ञा जहाँ है वह गुरु अर्थात् ब्रह्म है इससे **'प्रज्ञानं ब्रह्म'** महावाक्य सूचित किया। वेदों में प्रायः ऋग्वेद को प्रथम गणित करने के कारण उसकी प्रथम उपस्थिति स्वाभाविक है। उस प्रज्ञान की लौकिक अभिव्यक्ति तीन अवस्थाओं में होती है। इन्द्रियों के द्वारा विषयों के ग्रहण को जागृत अवस्था कहा जाता है। इन्द्रियों के उपसंहृत हो जाने पर जागृत के संस्कारों से केवल मन के द्वारा ज्ञात-सत्ताक पदार्थों का ज्ञान स्वप्न कहा जाता है। अन्तःकरण के भी उपसंहृत हो जाने पर केवल कारण अविद्या का अनुभव सुषुप्ति कहा जाता है। इस प्रकार जागृत में व्यावहारिक पदार्थों का ज्ञान जीव को प्रमाता रूप से होता है। एवं स्वप्न में प्रातिभासिक पदार्थों का ज्ञान साक्षी को होता है, तथा सुषुप्ति में सर्वाभाव का ज्ञान-मात्र अवशिष्ट रहता है। लेकिन तीनों ही अवस्थाओं में इन उपाधियों के बदलने पर भी जो ज्ञान की एकता है वही आत्मा है। विचार दृष्टि से कह सकते हैं कि जो ज्ञान सुषुप्ति काल में सबको अभाव रूप से जानता है, अर्थात् अज्ञान रूप से जानता है वही पुनः उस सर्व को देश काल वस्तु से परिच्छिन्न करके प्रातिभासिक रूप से जानता है, तथा स्थूल रूप से भी जानता है। जो जिसके बिना कभी उपलब्ध नहीं होता वह उसी का कार्य या फैलाव होता है। चूँकि अविद्या, समग्र प्रातिभासिक एवं व्यावहारिक पदार्थ ज्ञान के बिना कहीं भी, कभी भी, किसी को भी उपलब्ध नहीं होते अतः वे ज्ञान का ही कार्य या विस्तार हैं। सोने के बिना कण्ठी, करधनी, कड़ा, नथ आदि उपलब्ध न होने से उनकी स्वर्ण कार्यता का दृष्टान्त यहाँ समझना चाहिए। चूँकि ज्ञान आबाल—गोपवनिता प्रसिद्ध है, अतः उसे स्फुटतरा कहा गया है। स्फुटतरा आबाल प्रसिद्धि द्योतन के लिए है। मैं घड़े को जानता हूँ, मैं कपड़े का जानता हूँ, आदि स्थलों में सामान्य पुरुष को घड़े, कपड़े का भान जितना स्फुटतम है उतना 'जानता हूँ' का नहीं। यद्यपि 'जानता हूँ' ज्ञान का ही स्फुरण है। दूरस्थ पदार्थादि ज्ञान की अपेक्षा कम स्फुट हैं, अतः उनकी अपेक्षा से इसे स्फुटतर कहा गया। सर्वथा प्रज्ञान हीन लोहा लक्कड़ आदि में शास्त्रादि विचार सर्वथा असंभव होने से उनमें प्रज्ञान का स्फुट न होना यहाँ बाधक प्रमाण

नहीं माना जा सकता। इससे जो ज्ञान को भी स्वयं प्रकाश नहीं स्वीकारते ऐसे नराकृति जड़ों का निरादर भी यहाँ इष्ट है। अथवा घटपटादि ज्ञान, घटपटादि वृत्ति के द्वारा घटादि अधिष्ठित चैतन्यनिष्ठ अज्ञान को नाश करने पर ही होते हैं। स्वतः ज्ञान नित्य अनावृत है। अतः आवृत्त ज्ञानोंकी अपेक्षा इसे स्फुटतर कहना ठीक ही है। वस्तुतस्तु सर्वाधिष्ठान रूप से सर्व प्रकाशक होने के कारण आवरण करने वाले अज्ञान का भी प्रकाशक होने से उसकी नित्य निरावरणता स्पष्ट है। आवरण करने वाले बादल को प्रकाशित करने वाला सूर्य ही होता है। **'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं'** आदि श्रुतियाँ इसमें प्रमाण है। सर्व शब्द में संकोच के अभाव से माया, अविद्या या आवरण भी संग्रहीत हो जाता है।

यद्यपि संवित्, प्रज्ञान, चैतन्य, बोध, साक्षी, कूटस्थ, ब्रह्म, स्वयं, आत्मा आदि शब्दों का प्रयोग शास्त्र-ज्ञान रहित लोग करने में असमर्थ हैं तथापि अपनी अपनी देश-भाषाओं में अहं वाचक शब्दों के द्वारा उस शिव को ही, सारे व्यवहारों के सिद्ध करने वाले रूप से, वे स्मरण करते ही हैं, यह बतलाने के लिये 'या' शब्द का प्रयोग है। अर्थात् जिस किसी नाम से अवस्थात्रय का प्रत्यभिज्ञाता कहा जावे उसका वाचक शिव ही है। 'मैं' का जानने वाले से व्यभिचार न होना इसमें तर्क है। वस्तुतस्तु **'जानामि व्यवहारो बोधैक हेतुकः'** मैं जानता हूँ यह व्यवहार केवल ज्ञान के कारण ही सम्भव है, ऐसा अनुमान करने में असमर्थ होने पर भी लोक प्रसिद्धि मात्र से वे इसे जानते हैं। इस प्रकार जागृतादि अवस्थाओं की प्रसिद्धि से यदि संवित् प्रसिद्ध ही है तो शास्त्रादि के द्वारा उसको जानने का प्रयत्न व्यर्थ सिद्ध होगा यह शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि अनेक वस्तुएँ लौकिक गुणों की दृष्टि से प्रसिद्ध होने पर भी शास्त्रीय दृष्टि से अप्रसिद्ध होने के कारण फलोत्पत्ति नहीं कर पाती। शास्त्र-दृष्टि से यद्यपि वहाँ नया ज्ञान नहीं है तथापि नये प्रकार से ज्ञान अवश्य है। जैसे चन्द्रमा सर्व लोक प्रसिद्ध है, एवं अज्ञ जनों को भी वह मण्डलाकार तथा आह्लादजनक लगता है। शास्त्र दृष्टि से वह सदशिव

का नेत्र है। इस ज्ञान से यद्यपि चन्द्रमा तो पूर्ववत् ही दीखता है, परन्तु ज्ञान नवीन प्रकार का है। इसी प्रकार ज्ञान रूप से अहं को जानने पर भी, तीनों अवस्थाओं में अहं के रहने रूपी अन्वय, एवं अवस्थाओं के बदलने रूपी व्यतिरेक से, उसकी नित्यता का ज्ञान विवेकियों को शास्त्र द्वारा ही सिद्ध होता है, अविवेकियों को नहीं। पुनः वही संवित् स्वतः सिद्ध स्वप्रकाश इत्यादि विशिष्ट अनुभव का आश्रय बनती है एवं इन सब प्रकारताओं के आने पर भी अज्ञ अवस्था में जिस संवित् को जाना था उससे भिन्न किसी नयी संवित् को नहीं जाना जा रहा है। अतः सर्वथा विवेक-शून्य एवं दृढ़ ब्रह्मनिष्ठ में संवित् एक जैसी ही प्रसिद्ध बनी रहती है। जिस प्रकार चन्द्रमा को देख कर जिसे प्रकाश का ज्ञान हो गया है उसको सूर्य देखने पर किसी अछूते नये प्रकाश का ज्ञान नहीं होता वरन् प्रकाश की तीव्रता प्रकारकता युक्त प्रत्यभिज्ञा मात्र होती है उसी प्रकार घट-ज्ञान एवं ब्रह्मज्ञान में समझना चाहिये। अतः शास्त्र में किया हुआ परिश्रम संवित् की प्रसिद्धि होने पर भी व्यर्थ नहीं है। इस प्रकार ऋग्वेदोक्त 'प्रज्ञानं ब्रह्म' महावाक्य के प्रज्ञानं का लक्षण करके सर्वज्ञ शंकर द्वितीयपद ब्रह्म का निरूपण करते हैं। व्यष्टि प्रपञ्च में अविकृत रहने वाली चिति ही जैसे वहां उत् अर्थात् ब्रह्म का जृम्भण अर्थात् जंभाई है उसी प्रकार ब्रह्मा से पिपीलिका पर्यन्त जगत् व जीव भी उसी की जंभाई है। जंभाई लेते समय केवल मुख ही नहीं हाथ, पैर, धड़ आदि सभी अंगों का पूर्ण फैलाव किया जाता है। उसी प्रकार 'तस्य उत् इति नाम' (छा.)के द्वारा प्रोक्त उत् अर्थात् ब्रह्म की अनन्त शक्तियों का फैलाव ही यह सारा जगत् है। जंभाई में मुखविदारण ही प्रधान है। उसी प्रकार यहां भी जीव-सृष्टि की प्रधानता है। यहां ब्रह्मा, पिपीलिका शब्दों के द्वारा जीव-सृष्टि को प्रधान कहकर इसी का संकेत है। उनके तनु अर्थात् शरीरों के द्वारा जगत्-सृष्टि की गौणता का प्रतिपादन है। सृष्टि प्रक्रिया में भी जीव-सृष्टि का समष्टिरूप हिरण्यगर्भ ही प्रथम उत्पन्न होता है। अथवा उत् का अर्थ अधिक भी होता है। अतः जीव-जगत् रूप से वह ब्रह्म अधिक उल्लास को प्राप्त करता है। इसमें

'स एकाकी न रेमे' आदि श्रुति प्रमाण हैं। 'यं तद् अभ्यधिका सृष्टिः' आदि श्रुतियां भी अनुसंधेय हैं। तात्पर्य है कि वही चिन्मात्र व्यवहार हेतु रूप से सबका प्रकाशक बन जाता है। सबका प्रकाशक बनते हुए वह सर्व-प्रकाश बना रहता है अतः उसका सर्व रूप से बनना ही उसकी सर्व-प्रकाशकता है। अथवा उत् का जृम्भण ही व्यष्टि समष्टि सृष्टि में हेतु है। नींद ही जंभाई का कारण है। इसी प्रकार तत्व का अनवबोध रूपी निद्रा ही प्रपञ्च का कारण है। 'निद्रा तत्वमजानतः' कह कर भगवान् गौड़पाद इसी को बतलाते हैं। जिस प्रकार निद्रा का भाव सर्वथा समाप्त होने पर जँभाई असम्भव है उसी प्रकार चिन्मात्रनिष्ठ हो जाने पर प्रपञ्च असम्भव हो जाता है। चूँकि जंभाई लेने से जभाई लेने वालों में किसी विशेषता का आपादान नहीं होता वरन् किञ्चित् शक्ति संकोच की ही अनुमिति होती है उसी प्रकार सृष्टि आदि के द्वारा संवित् में किसी विशेषता का आधान नहीं होता वरन् जीवादि भाव में स्वातंत्र्य एवं अनन्तता तथा आनन्द के संकोच की ही प्रतीति होती है। अथवा उत् अर्थात् ब्रह्म ही जृम्भण करके जीव भाव में परिणत होता है। इस भान की प्रसिद्धि में विद्वान् और अविद्वान् दोनों में अह का एक तरह ही भान होना हेतु है। जिस प्रकार विद्वान् का अनुभव है कि मैं जानता हूँ वैसा ही अविद्वान् का भी है। यद्यपि दोनों के ज्ञान में विषय-भेद से प्रकार भेद भी है ही, तथापि मैं अविद्वान् ही आज विद्वान् हूँ ऐसी प्रत्यभिज्ञा जिस प्रकार एक व्यक्ति में अनुभव के भेद होने पर भी ऐक्य संस्थापन करती है, उसी प्रकार अनादिकाल से आज-पर्यन्त के सभी विद्वानों और अविद्वानों में एक अहं की सिद्धि भी करती है। वस्तुतः महावाक्यों में प्रज्ञानं अथवा ब्रह्म एक पद ही पर्याप्त हो सकता है परन्तु स्पष्टार्थता के प्रतिपादनार्थ एवं अवापोद्धार का सरलीकरण हो जाय इसी लिये पद-द्वय समाविष्ट हैं। जागृत् से उजृम्भते तक प्रज्ञानं का अर्थ प्रतिपादित कर दिया गया। अब आगे ब्रह्म पदार्थ का निरूपण करते हैं।

ब्रह्मा से लेकर चींटी तक अनन्त शरीरों का भेद है। ब्रह्मादि देव-देहों में सत्वगुणाधिक्या से ज्ञान और क्रिया अत्यधिक है, तो चींटी

इत्यादि नगण्य प्राणियों में तमोगुणाधिक्य से अति न्यून। तथापि उन सब में साक्षी रूप से परमेश्वर प्रोत है अर्थात् बाने की तरह गुंथा है। वस्तुतः ज्ञान और क्रियाओं में अनन्तता होने पर भी इच्छा सर्वत्र एवं सदा ही परम स्वतंत्र रूप से ही विद्यमान रहती है। अतः वही सदा-शिव का अन्तर्यामी रूप है। चूंकि अन्तर्यामिता उपादान कारण में सम्भव होती है अतः उसे उपादान नारायण से अभिन्न माना गया है। पौराणिक उपाख्यानों में प्रद्युम्न इसीलिये काम के अवतार माने गये हैं। इच्छा मानो अन्तर्यामी का ही बाह्य अभिव्यक्तीकरण है जिस प्रकार पुत्र पिता का।

यद्यपि प्रतीत होता है कि सब प्राणियों में अन्तर्यामी रूप से परमेश्वर विद्यमान है परन्तु वास्तव में अन्तर्यामी में सारा जगत् विद्यमान होता है। जिस प्रकार लगता है मानो रुद्राक्ष में धागा पोया हुआ है परन्तु विचारवान् जानता है कि धागे में दाने पोये गये हैं। नियामक धागा है न कि दाने। सभी ज्ञान क्रियाओं में इच्छा की विद्यमानता है परन्तु विवेक दृष्टि से इच्छा में ज्ञान और क्रिया समन्वित हैं, इच्छा ही दोनों की नियामिका है। इस प्रकार सब अवस्थाओं के साक्षी रूप से प्रतिपादित प्रत्यगात्मा का सब प्राणियों में प्रतिष्ठित इच्छा-स्वातंत्र्य का अभेद प्रतिपादन करके जीव और शिव की एकता बतायी गई। वस्तुतः सर्वप्राणि-प्रसिद्ध संवित् ही ब्रह्म शब्द की अभिधेय है। अतः अनन्त, परिपूर्ण अर्थ की प्रत्यगात्मा से एकता महावाक्य का लक्ष्यार्थ हो गया। सैवाऽहं से उसी को परिपुष्ट करते हैं। एव से सविद् अतिरिक्त सर्वभाव निषेध है। विशिष्टाद्वैतवादी वैष्णवादि भी जीव और ईश्वर की किसी अश में एकता स्वीकारते हैं, 'परन्तु वे ईश्वर ही जीव है इस प्रकार का अत्यन्त अभेद मानने को तय्यार नहीं क्योंकि किसी अंश विशेष में भेद उनको इष्ट रहता है। अतः इन मतों का सर्वथा निषेध करने के लिये भगवान् शंकर एवं पद का प्रयोग करते हैं। किंच उपर्युक्त दोनों में प्रयुक्त वाक्य-खण्डों के द्वारा जिस एक अभिन्न संवित् का प्रतिपादन किया गया है उससे भिन्न किसी अन्य का

प्रत्यगात्मा रूप से निषेध भी एव का तात्पर्य है। चूंकि अहं ज्ञान के व्यवहार के योग्य देहादि पदार्थ प्रसिद्ध हैं अतः स्पष्ट करने के लिये दृश्य वस्तु नहीं, ऐसा कह दिया गया। रूढ़ि से अहं का वाच्यार्थ अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय अथवा आनन्दमय भाव को प्राप्त हुई संवित् है। जिन अतिपामरों के यहां धन, स्त्री, पुत्र, गृह आदि में अहं पद रूढ़ है, वह तो सर्वथा हेय होने से यहां निषेध के विषय भी नहीं बनाये जा सकते। धनाभिवृद्धि से मैं बड़ा आदमी हो गया, अथवा अनेक पुत्रों से मैं बढ़ गया आदि प्रतीतियां तो सामान्य अविवेकियों में भी नहीं रहतीं, विवेकियों की क्या कथा ! अतः दृश्य वस्तु, अर्थात् दृष्टि के द्वारा जिसका कभी भी आत्मा से अभिन्न हुआ सा विषय हो सकता है, उसी का यहां निषेध है। **'अन्वेष्टव्यात्मविज्ञानात् प्राक् प्रमातृत्वमात्मनः अन्विष्टस्यात्प्रमातैव पाप्मदोषादि-वर्जितः'** के द्वारा सुन्दरपाण्ड्य इसी एकता को स्पष्ट ही प्रतिपादित करते हैं। दृश्यमात्र कहने से ही वस्तुत्व प्रतीत हो जाती है, फिर वस्तु शब्द का प्रयोग क्यों किया गया ? वेद-सिद्धान्त में दृश्य सत्य वस्तु न होने पर भी व्यवहार योग्य होने से वस्तु कहा जाता है। चूंकि आत्मा अव्यवहार्य है अतः वह अवस्तु है। दृश्य में इस पारमार्थिक अवस्तुता का निराकरण करने के लिये ही व्यावहारिकता का आरोप करके वस्तुत्व प्रतिपादन करना इष्ट है। अथवा कल्पित सम्बन्ध से परमार्थ वस्तु में ही प्रतीत होने से दृश्य में वस्तुता स्वीकारी जाती है। जैसे रस्सी की इदंता के संसर्ग से सर्प में इदंता मान कर ही 'नायं सर्पः' निषेध संभव है। यदि सर्प में इस कल्पित इदंता को न स्वीकारा गया तो साध्य की असिद्धि से निषेध ही असम्भव हो जायेगा। इसी प्रकार दृश्य में ब्रह्म की वस्तुता के संसर्ग से ही दृश्य का निषेध करना ही भाष्यकार का तात्पर्य है। अथवा दृश्य में व्यावहारिक योग्यता होने से यदि वस्तुता स्वीकार भी करली जाय तो भी उसका असंग पुरुष से संग-असम्भव ही रहेगा। अतएव सांख्यवादी प्रकृति को सत्य मानने के कारण दृश्य की वस्तुता को स्वीकार करके भी उसका पुरुष से संसर्ग एवं स्वरूप भेद ही मानते हैं, अतः इस दृष्टि से भी जड़त्व, परिच्छिन्नत्वादि

दोषों के कारण 'मैं' दृश्य वस्तु नहीं हो सकता, ऐसी दृढ़, अर्थात् संशय-विपरीत भावना, अभावना आदियों से अबाधित, जिसकी प्रज्ञा है, वह चाहे चाण्डाल हो अथवा द्विजाति, गुरुमूर्ति ही है; ऐसी मेरी समझ है। तात्पर्य है कि अज्ञानी को जिस प्रकार देह में 'मैं' भाव होता है वैसा ही शिव, गुरु एवं वेद की कृपा से जिसको प्रत्यगात्मा में हो गया है वह यदि जन्मसे पशुओं का घात करने के स्वभाव वाला होता है, फिर भी ब्राह्मण की भांति आचार करने वाला बन जाता है। ज्ञान का स्वभाव है अपने आश्रय को बदल देना। अंधेरे में ठोकर खाकर कांटों में गिरने वाला व्यक्ति सूर्य के उदय हो जाने पर पत्थर व कांटों को देखते हुए फिर भी उसमें गिरे यह जैसे सम्भव नहीं वैसे ही अविद्या के घने अन्धकार में पड़ा हुआ चाण्डाल की तरह स्व एवं पर के अहित में लगा हुआ सर्वज्ञता को प्राप्त करके भी वैसे ही आचरण में लगा रहे यह सम्भव नहीं। **ज्ञानीत्वात्मैव मे मतः**, आदि भगवद् वाक्यों से ज्ञानी और भगवान् में कोई भेद नहीं। **तस्मात् आत्मज्ञं ह्यर्चयेत् भूतिकामः**, इत्यादि श्रुतियां भी आत्मज्ञानी की जात्यादि निरपेक्ष ही पूज्यता प्रतिपादन करने में गतार्थ हैं। मम शब्द से शंकरभगवत्पाद इस मत को स्वानुभव सिद्ध भी बता रहे हैं।

तात्पर्य हुआ कि जिस पुरुष-श्रेष्ठ ने तीनों अवस्थाओं में संवित् के उल्लास के दर्शन के द्वारा प्रज्ञान शब्द का विवेक कर लिया, एवं ब्रह्मादि देहों में जगत् साक्षिता से ब्रह्म को समझ लिया, तथा दोनों की एकता रूपी वाक्यार्थ का साक्षात्कार कर लिया एवं इसके फलस्वरूप स्थितप्रज्ञ बनकर सदा समाहित अन्तःकरण वाला हो गया, उसमें चाण्डालत्व, विप्रत्व आदि भेदों से रहित ब्रह्म-प्रत्यभिज्ञा ही सम्भव है। **ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति** इत्यादि श्रुतियाँ यही बतलाती हैं। यद्यपि यही पारमार्थिक सत्य है, फिर भी श्वपचादि देहों में प्राक्तन संस्कारों के अनुरूप अपारमार्थिकी व्यवहार के सांकर्य को बचाने वाली जो प्रारब्ध-जन्य-प्रवृत्ति-निवृत्ति है वह सभी विद्वानों में नैसर्गिक होने से उसका मुझमें भी प्रथम होना ठीक ही था। परन्तु प्राक्तन संस्कार अननुरूप चाण्डाल देह में आत्म-ज्ञान देख लेने पर उस संस्कार की अनुवृत्ति का समाप्त होना

भी ऐसा ही नैसर्गिक व्यवहार है। वस्तुतः तो परमार्थ वस्तु के जानने की योग्यता उपनिषद् के द्वारा ही होने के कारण वेद के अधिकारी द्विज में ही इसकी संभावना होती है, तथापि कर्म की गहन गति से यदि किसी योग-भ्रष्ट की किसी वासना या कर्म-शेषता से चाण्डाल देह में आने पर भी उपनिषद्-जन्य पूर्व उपलब्ध ज्ञान की प्रत्यभिज्ञा रह जाय तो वहाँ चाण्डालत्व भी आभास मात्र है। **नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते,** इत्यादि स्मृति वचनों से ज्ञान के द्वारा जिस चाण्डाल शरीर में से सारे पातकों की निवृत्ति होकर पूर्णाहन्ता प्रतिष्ठित हो गई है, एवं जहाँ पहुँच कर पिता भी पिता नहीं रहता, माता भी माता नहीं रहती, चोर भी चोर नहीं रहता वहाँ चाण्डाल भी चाण्डाल न रहे यह स्वतः स्फुट है। अतः सर्वज्ञ शंकर का यह कथन ठीक ही है। श्रुति भी आत्म-ज्ञानी को **'अथ ब्राह्मणः'** कह कर मुख्य ब्राह्मण बता रही है। आत्मज्ञानी के चाण्डाल देह में पूज्यत्व के प्रतिपादन से जो आधुनिक शास्त्र-अनभिज्ञ चाण्डाल मात्र को ब्राह्मणों के समान सिद्ध करने का प्रयास करते हैं वे उपहासास्पद एवं दयनीय हैं यह तो स्पष्ट ही है।

ब्रह्मैवाहमिदं जगच्च सकलं चिन्मात्र-विस्तारितम्
सर्वं चैतदविद्यया त्रिगुणया शेषं मया कल्पितम्॥
इत्थं यस्य दृढ़ामतिः सुखतरे नित्ये परे निर्मले
चाण्डालोस्तु स तु द्विजोस्तु गुरुरित्येषा मनीषा मम॥

अर्थात् मैं ब्रह्म स्वरूप आनन्द स्वरूप, नित्य, श्रेष्ठ, निर्मल शिव हूँ एवं यह सारा संसार शुद्ध चैतन्यमें त्रिगुणात्मिका माया के द्वारा कल्पित करके फैलाया गया है। ऐसा जिसका अत्यन्त दृढ़ निश्चय है वह चाण्डाल हो अथवा द्विजाति, मेरा गुरु ही है, ऐसा मेरा दृढ़ निश्चय है।

ऋग्वेदीय महावाक्य के पश्चात् यजुर्वेद के महावाक्य **'अहं ब्रह्मास्मि'** के अर्थ का प्रतिपादन करते हैं।

अहं पद का वाच्यार्थ अन्तःकरण की अहंकारात्मिका वृत्ति में प्रतिफलित चित् शक्ति है। अतः अहंकार का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण यद्यपि ब्रह्म ही है तथापि सामान्य दृष्टि से वृत्ति में उसकी

कारणता प्रतीत हो जाती है। इसी लिए अहं का वास्तविक विवेचन करने पर यद्यपि वह शुद्ध चिद्घन शिव ही सिद्ध होता है तथापि, अशुद्ध अवस्था में वृत्ति-विशिष्ट होने के कारण वह प्रमेय भी हो जाता है। बृहदारण्यकोपनिषद् में इसी लिये **'अहं ब्रह्मास्मि'** इस महाकाव्य में अहं को प्रथम उपस्थापित किया गया है। चूँकि **'प्रज्ञानं ब्रह्म'** इस वाक्य का पूर्व मन्त्र में विवेचन हो चुका है और ब्रह्म का लक्षण भी कर दिया गया है, अतः भगवान् शंकर यहाँ पर क्रम बदल कर **ब्रह्मैवाहं** में ब्रह्म को प्रथम कहते हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अहं की प्रसिद्धि होने पर भी दार्शनिक दृष्ट्या जगत् कारणत्वेन ब्रह्म ही प्रसिद्ध है। अहं ब्रह्म कहने मात्र से अहं का ब्रह्म से अभेद होने पर भी ब्रह्म अहं से कुछ विशेष भी हो सकता है। जिस प्रकार बूंद और समुद्र में बूंद के समुद्र से अभिन्न होने पर भी समुद्र बूंद से विशेषता रखता है। इस प्रकार की द्वैतच्छाया को निवारण करने के लिए आचार्य **ब्रह्मैव अहं** कहते हैं। ब्रह्म का कोई अंश अहं नहीं वरन् परिपूर्ण ब्रह्म ही अहं है। यदि अहं से भिन्न कुछ भी ब्रह्म का अंश होगा तो वह अहं से भिन्न होने के कारण जड़ होगा। जड़ अपनी सिद्धि के लिए चेतन सापेक्ष्य होने से विकारी एवं परिच्छिन्न होकर अहं के अधीन हो जायेगा। अतः किसी भी प्रकार अहं से अतिरिक्त ब्रह्म असम्भव है।

इंद रूप से प्रतीयमान जगत् वस्तुतः चित् का ही विस्तार है। चित् अचित् को ही प्रकाशित कर सकता है। प्रकाशित करने की सामर्थ्य प्रकट करना ही अचित् की सृष्टि का प्रयोजन है। विसर्गार्थक सृज् धातु अन्तः को बाह्यवत् प्रतीत करने के अर्थ में ही होता है। वस्तुतः विस्तार शब्द का अर्थ भी फैलाना होने से जिस प्रकार कपड़े के पूर्व विद्यमान आयाम (तह) को ही प्रकट करना है उसी प्रकार अन्तस्थ विश्व ही बाहर प्रकट करता हुआ सा होकर के जगत् बना हुआ कहा जाता है। जगत् का अर्थ ही होता है जाता हुआ। अतः जगत् प्रतिक्षण अपनी योनि अहं में लीन होता है एवं पुनः प्रकट होता है। **'ज्ञातं मयेति तत्पश्चात् विश्राम्यति अन्तरात्मनि'**, मैंने जान लिया इस प्रकार की

अनुभूति रूप अनुव्यवसाय प्रत्येक क्षण होता ही रहता है। अतः छान्दोग्य उपनिषद् पर भाष्यकार लिखते हैं कि **'इदं बुद्धि कालेऽपि सर्वं ब्रह्म एव'**।

चूंकि ब्रह्म की एक अखण्ड स्वरूपता में किसी प्रकार के भेद की गन्ध सम्भव नहीं, अतः बाह्यवत् प्रतीति अविद्या के द्वारा ही होती है। चिद्घन शिव में प्रपंच, अविद्या के अतिरिक्त और किसी हेतु से सम्भव नहीं। वस्तुतः तो जिस पदार्थ का नाम ही नहीं उसकी सत्ता कैसे हो सकती है। नाम तो विद्या का ही है। उसमें निषेधार्थक प्रत्यय लगाने मात्र से अविद्या की संज्ञा बनती है। चूंकि अविद्या भी अपनी सिद्धि के लिए विद्या सापेक्ष्य है, अतः यहाँ 'अ' अभावार्थ में नहीं, वरन् अल्पार्थ में समझना चाहिए। विद्यामें पूर्णता का न होना ही अविद्या है। अतःविकल्पों से संकुचित विस्फार ही सृष्टि है। यह संकोच ही अविद्या है। यह अविद्या आणव, मायिक और कार्मिक भेदों से तीन गुण वाली है। अथवा अविद्या, काम, कर्म यह तीन अविद्या के गुण हैं। जिस प्रकार योग, अर्थात् समाधि, अष्टांग योग का अंगी भी है एवं अष्टम संख्या का पूरक भी है उसी प्रकार अविद्या यहाँ त्रित्व का पूरक होते हुए भी अंगी है। वैदिक तो नाम, रूप, कर्म इन तीन गुणों से ही अविद्या की त्रिगुणिता मानता है। औपनिषद् मत में तेज, अप् एवं अन्न यह छान्दोग्य में कहे हुए तीन गुण यहाँ स्वीकर्तव्य हैं। अथवा सांख्यवादियों के सत्व, रज, तम मनुष्यासादि शिष्टों के द्वारा अभ्युपगत होने से यहाँ माने जा सकते हैं। हर हालत में यह सब कल्पना मुझ अध्यक्ष के द्वारा ही रचित है, ऐसी जिसकी निश्चित धारणा है वह, निर्मल नित्य सुख में परिनिष्ठ होने के कारण, चाहे चाण्डाल शरीर में हो चाहे द्विज, मेरा गुरु है, यह मेरा दृढ़ निश्चय है। मति की दृढ़ता का तात्पर्य असंभावना, विपरीत भावना से रहितता ही। है चूँकि ऐसी दृढ़ मति दुर्लभ है अतः यस्य कहा। असंभव होने पर भी जिस पुरुषवर ने इसको प्राप्त कर लिया वह पुनः बाह्य-दैहिक संसर्गों से असंग होने के कारण सभी प्रमाणों का अविषय होने से

शास्त्रों के विधि-निषेध का भी अविषय ही है यही सर्वज्ञ शंकर का तात्पर्य है।

शश्वन्नश्वरमेव विश्वमखिलं निश्चित्य वाचागुरो-
र्नित्यं ब्रह्म निरन्तरं विमृशता निर्व्याज-शान्तात्मना।
भूतं भावि च दुष्कृतं प्रदहता सच्चिन्मये पावके
प्रारब्धाय समर्पितं स्ववपुरित्येषा मनीषा मम॥

गुरु के वचन से सारे संसार को सदा ही नाशवान् समझते हुए, नित्य ब्रह्म का निरन्तर ध्यान करते हुए, जिसका मन सचमुच शान्त हो गया है, वह पिछले एवं अगले दुष्कर्मों को सत् चित् रूपी अग्नि में भली प्रकार जलाते हुए, अपने शरीर को प्रारब्ध कर्म के अधीन करके, जीवन और मरण में भी लिप्सा रहित रहता है। ऐसा पुरुषवर्य कोई भी हो मेरा गुरु ही है।

यजुर्वेद के महावाक्य का निरूपण करके अब सामवेद की कौथुमी शाखा में कहे हुए तत्वमसि वाक्य का निरूपण करते हैं। **'सदेव सोम्य इदम् अग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम्'** (छा. ६।२।१।) इस छान्दोग्यवाक्य में जिस सत् को बताया गया है वही महावाक्य के तत् पद से परामृष्ट है। यहां अग्रे के द्वारा यह कहा जा रहा है कि जगत् न आगे था न आगे रहेगा। इसी को शंकर भगवत्पाद शश्वत् नश्वर शब्द से कह रहे हैं। 'एव' से नश्वर के अतिरिक्त और किसी भाव की असम्भवता बताई जा रही है। चाहे सृष्टि-दृष्टिवाद हो चाहे दृष्टि-सृष्टिवाद दृश्य एक क्षण भी द्रष्टा से अलग होकर स्थित नहीं हो सकता। अतः पदार्थ नश्वर नहीं वरन् शश्वत् नश्वर हैं। इसी लिये आचार्य शंकर लिखते हैं **'एकमेवाद्वितीयं परमार्थतः इदं बुद्धि कालेऽपि'**। (छा. भा. ६।२।२।) इस प्रकार अखिल जगत् के कारण रूप से सन्मात्र वस्तु का निर्देश कर दिया। यह ज्ञान तर्क का अविषय होने से गुरु की वाणी से ही समझा जाता है, एवं ऊहापोह के साथ उपनिषदों के मनन से ही इसका निश्चय होता है। वस्तु की एकरूपता से ही भेदके मिथ्यात्व की सिद्धि है अतः जगत्-कारण का विचार करने से सभी

भेदों का बाध हो जाने पर, अबाधित चित् तत्व ही बच जाता है, जो तत्त्वमसि महावाक्य के त्व का लक्ष्यार्थ है। चित् का बाध होना असम्भव होने से ही उसे नित्य कहा गया, क्योंकि चित् का बाध अचित् तो कर नहीं सकता एवं स्वयं चित् अपना बाध कैसे करे।

सभी उपाधियां जगत के अन्तः पाती होने से उपाधियों के बाध होने के अनन्तर निरुपाधिक होने से ही संवित् परिपूर्ण या ब्रह्म कही जाती हैं। विचार से ऐसा ज्ञान हो जाने पर भी इसमें निष्ठा के लिये निरन्तर विमर्शात्मक अभ्यास की आवश्यकता रहती है। इसीलिये स्मार्त उपनिषदों में कहा है **'आसुप्तेः आमृतेः कालं नयेत् वेदान्त-चिन्तया'** जब तक नींद न आजाय, जब तक मृत्यु न हो जाय तब तक वेदान्त का सिद्धान्त जो पूर्णाहन्ता है उसी में चित्त को स्थिर रखना चाहिये। इसके द्वारा त्वं पदार्थ का किस साधन से शोधन होता है यह भी बतला दिया गया। यद्यपि आत्मज्ञान के साधनों में ही अन्तःकरण की शान्ति और उपरति का विधान है तथापि वहां विचार के दबाव से होने के कारण उपरति अन्तश्चेतना के रूप में नहीं बन पाती। इसीलिये वहां की शान्ति और उपरति निर्व्याज अर्थात् निष्कपट या वास्तविक नहीं है वरन् कर्तव्य रूप से है। भाव है कि बाहर से शान्त दिखने पर भी अशान्ति का बीज विद्यमान ही है। आत्म-ज्ञान के उपरान्त जब दृढ़ता आजाती है तब इस बीज के नष्ट हो जाने से सचमुच ही शान्त हो जाता है। **'वैराग्यस्य फलं बोधो बोधस्योपरतिः फलम्'** वैराग्य का फल बोध एवं बोध का फल उपरामता है। इस प्रकार भगवान् शंकर वैराग्य और उपरति को विवेक चूड़ामणि में बतलाते हैं। इस उपरति को ही यहां निर्व्याज शान्तात्मना से कहा गया है। जब अनायास ही चित्त स्पन्दन से रहित रहे, एवं तीव्रतम प्रारब्ध के सुख-दुःखादि विकार काल में अव्यग्र रहे, तथा स्वभाव से ही मन्द तीव्र प्रारब्ध के भोग के प्रति आत्मानन्द की तीव्रानुभूति से निस्पन्दता रहे तभी समझना चाहिये कि आत्मज्ञान सिद्ध हो गया है। इस स्थिति में अतीत एवं वर्तमान दुःखों के अनुभव का कारण जो दुष्कर्म अर्थात् पाप

वह जल जाता है। **ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन।** (गीता) भूत कर्म को पौनः पुन्येन **'अहं ब्रह्मास्मि'** इस आकार वाली वृत्ति कर्मजन्य चित्त-निष्ठ संस्कारों का नाश करते हुए जलाती रहती है। इसी को धर्ममेघ समाधि कहा जाता है। संस्कार-समूह ही चित्त का स्वरूप है। संस्कार, वासना और कर्म, फल के भेद से दो प्रकार के हैं। इसमें शुद्धरूपता का ज्ञान वासना रूपी संस्कारों को एवं अकर्तापन का ज्ञान कर्म-फलों को नष्ट करता है। जितनी-जितनी आत्मज्ञान की दृढ़ता होती जाती है, उतना-उतना चित्त क्षीण होता जाता है। चूंकि शुद्ध-रूपता एवं अकर्तृत्वता नयी नहीं आई है, अतः ज्ञान-पूर्व भी कर्तृत्वादि भाव से रहित होने के कारण उस काल के कर्मफल एवं वासनाओं का नाश भी सम्भव हो जाता है। इसी लिये भगवान् शंकर **'प्राक्कर्म प्रविलाप्यतां चितिबलात्'** भूत कर्मों को इसी आत्मसंवित् के चिति बल से नाश करने का उपदेश देते हैं। चूंकि देहादि से होने वाले कर्मों में आत्म भावना का अत्यन्ताभाव है, अतः भविष्य में होने वाले कर्मों की प्रतीति, अज्ञ जनों की दृष्टि से आत्मा में आरोपित होने पर भी, विज्ञ में कर्तृत्व भाव लाने में सर्वथा असमर्थ रहती है। अतः संस्कार एवं कर्म-फल की संभावना ही नहीं रहती। **'नाप्युत्तरैः श्लिष्यतां'** के द्वारा यही बताया है।

जो कर्म फलोन्मुख हो चुके हैं वे सत्य संकल्पता के कारण फल देते हुए प्रतीत होते रहेंगे। परन्तु यह संकल्प ईश्वर रूप से है, जीव रूप से नहीं। अतः ईश्वर अपने संकल्प को इस देहादि संघात से जैसे भी पूरा करना चाहता है करावे, मेरा इससे कोई सम्बन्ध नहीं। यही **'प्रारब्धाय समर्पितम्'** का भाव है। प्रारब्ध का तात्पर्य जिसने प्रारम्भ किया वह, अर्थात् ईश्वर। वैसे तो मरने के अनन्तर सामान्य जीवों के देह को भी जलते हुए या सड़ते हुए देखकर लोग कह देते हैं उस बिचारे का यह हाल हो रहा है; कुछ लोग तो अपने प्रेम-पात्र को जलते हुए देखकर रोते हुए भी देखे जाते हैं। परन्तु उस शरीर को अपने पुत्रादि को अर्पण करने के बाद उस जीव को जलने-सड़ने

से दुःखानुभूति या चन्दन, नवीन वस्त्रादि धारण करने से सुखानुभूति कोई भी विवेकी नहीं मान सकता, उसी प्रकार दृढ़ ब्रह्मनिष्ठ ने जब अपने शरीर को ईश्वर-संकल्प रूपी प्रारब्ध के भरोसे छोड़ दिया तो यश-अथवा मिष्ट भोजनादि से न सुख और न ताड़नादि से उसमें दुःख बनेगा। ऐसा दृढ़ अनुभव करने वाला ब्रह्मविद् वरिष्ठ चाहे चाण्डाल-देह में हुआ हो या द्विज-देह में मेरी गुरु मूर्ति ही है, ऐसा सर्वज्ञ भगवत्पाद अपना दृढ़ निश्चय बतलाते हैं। वपुः के बाद आये हुए इतिशब्द से **चाण्डालोस्तु** इत्यादि पूर्वश्लोकोक्तवाक्यकी अनुवृत्ति कर लेनी चाहिये।

यातिर्यङ् नर-देवताभिरहमित्यन्तः स्फुटा गृह्यते
यद्भासाद्धृदयाक्षदेहविषया भान्ति स्वतोऽचेतनाः।
तां भास्यैः पिहितार्क-मण्डल निभां स्फूर्तिं सदा भावयन्
योगी निर्वृत-मानसो हि गुरुरित्येषा मनीषा मम॥

जो पशु, मनुष्य, देवता इत्यादियों के द्वारा 'मैं' इस प्रकार से अन्दर स्पष्ट अनुभव किया जाता है, एवं जिसके प्रकाश से मन, इन्द्रियाँ, देह एवं विषय अचेतन हुए भी प्रकाशित होते रहते हैं, जो प्रकाश्यों के द्वारा सूर्य-मण्डल की तरह ढांक दिया जाता है, उस चेतन रूपी प्रकाश का ध्यान करते हुए मोक्ष-सुख से युक्त मनवाला चाहे द्विज हो चाहे चाण्डाल मेरे गुरु की मूर्ति ही है, ऐसा मेरा दृढ़ निश्चय है।

ऋक्, यजु और साम के महावाक्यों का वर्णन करके अब अथर्ववेद के महावाक्य का अर्थ प्रतिपादन करते हैं। 'अयमात्मा ब्रह्म' यह माण्डूक्योपनिषद् में आने वाला महावाक्य है। इसमें आत्मा की अपरोक्षता एवं प्रकाशकता का प्रतिपादन है। प्राणी मात्र में सब से स्पष्ट और असन्दिग्ध प्रतीति 'मैं' की ही है। यह चैतन्य का स्फुरण अनायास ही सर्वत्र प्रसिद्ध है। देवताओं से लेकर पिपीलिका तक अहम् प्रत्यय के व्यवहार की योग्यता एक जैसी ही है। अन्तः पद से यहाँ विज्ञानमय अर्थात् बुद्धि को ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि वहीं पर अनावृत आत्मा का स्फुट रूप से अनुभव होता है। **स वा एष आत्मा हृदि तस्यैतदेव निरुक्तंहृदि अयं इति तस्मात् हृदयम्** (छा०/८/३/३)

वह अपहत पाप्मा रूपी आत्मा हृदय पुण्डरीक में रहता है यही उसका निर्वचन है। हृदय में वह आत्मा रहता है इस लिये उसे हृदय कहते हैं, इत्यादि श्रुतियों से हृदय में आत्मा चिदाकाश रूप से विद्यमान है। चिदाकाश में सूर्य की भांति समग्र हार्दाकाश को प्रकाशित करते हुए वह रहता है। हृदय गोलक के प्रकाश से ही ज्ञानेन्द्रियां, कर्मेन्द्रियां, स्थूल शरीर एवं रूप-रस-गन्धादि और उनके आश्रय पृथिवी-जल-तेजादि भी क्रमशः प्रकाशित होते रहते हैं। यद्यपि यह सभी आत्मा से व्याप्त हैं, तथापि नियमतः उसका हृदय गोलक में ही निवास है। यहां निवास का तात्पर्य अन्यत्र निवास का अभाव बताने में नहीं वरन् उपलब्धि का अभाव बताने में है। इस प्रकार हृदि निवास के द्वारा अयं पद को कह करके, एवं 'अहं' के द्वारा आत्मा को कह करके उसके ब्रह्म पद की वाच्यता को बताते हैं। शब्दादि सभी स्वतः अर्थात् स्वभाव से जड़ हैं, तथापि वे चेतन प्रकाश को अप्रकाश की तरह प्रतीत करवा देते हैं। जिस प्रकार बादल सूर्य से उत्पन्न एवं सूर्य के समक्ष अत्यन्त परिमित शक्ति वाला होते हुए भी सूर्य को ही ढक लेता है, तथापि स्वयं अपने को दिखाते हुए सूर्य की रश्मियों से अपने को भी ढका हुआ देखा जाता है, उसी प्रकार आत्मा से उत्पन्न इन्द्रियादि स्वयं उस आत्मा की ज्ञान-शक्ति को ढक कर भी उसी ज्ञान-शक्ति के द्वारा प्रकाशित होकर उस संवित् की सर्वव्यापकता तथा सर्वशक्तिमत्ता का ज्ञापन कराते हैं। जो ज्ञानी इस प्रकार पदार्थानुभूति काल में भी यतेन्द्रिय हुआ हुआ सदा प्रकाश रूप से उन पदार्थों के प्रकाशक बनते हुए भी अहं के प्रेम-पूर्ण ध्यान अर्थात् भाव में स्थित रहता है वह देवादियों में भी उसी अहं तत्व का अनुसन्धान करता है। इस प्रकार की व्यापकता को बतलाकर **'अयमात्मा ब्रह्म'** इस महावाक्य के ब्रह्म पद को बतला दिया। एक ही अहं की प्रतीति से आत्मा और ब्रह्म की एकता भी बतला दी। अथवा प्रथम 'यत्' पद से समष्टि उपाधिविशिष्ट को लक्ष्य करके दूसरे यत पद से व्यष्टि उपाधि का लक्ष्य किया। दोनों की एक ही विशेष्य की विशेषणता कहकर एकता को बताया। तृतीय

पाद में एक ही तत् पद के साथ दोनों यत् पदों का एक जैसी अन्वय योजना होने से यही एकता सुस्पष्ट है। इसके बाद ढांकने के प्रतिपादन से तिरोधानावस्था का निर्देश करके, भावना करने से उस साधना का निर्देश कर दिया, जिसके द्वारा परमेश्वर का अनुग्रह उपलब्ध हो जाता है। '**निर्वृत मानसः**'साध्य को बतलाता है। अर्थात् जिसका मन अपने कारण अज्ञान के साथ हट गया है अथवा निर्वृत, अर्थात् प्राप्त हो गया है मोक्ष सुख जिस मन को—वह निर्वृत मानसहै। तात्पर्य है कि ब्रह्माकार वृत्ति के सतत अभ्यास से अन्तःकरण में केवल ब्रह्मात्मैकत्व संस्कार रूपी आनन्द संस्कार ही केवल अवशिष्ट रह जाते हैं। अथवा 'हि' शब्द का अर्थ हेतु समझ लेना चाहिये, वह निवृत्त मानस है इस कारण वह मेरा गुरु है। पूर्ववत् 'इति' से चाण्डालोऽस्तु इत्यादि अनुवृत्त है।

यत्सौख्याम्बुधिलेशलेशत इमे शक्रादयो निर्वृताः
यच् चित्ते नितरां प्रशान्त-कलने लब्ध्वा मुनिनिर्वृतः।
यस्मिन् नित्य सुखाम्बुधौ गलितधीर्ब्रह्मैव न ब्रह्मविद्
यः कश्चित् स सुरेन्द्रवन्दितपदो नूनं मनीषा मम॥

जिसके सुख-समुद्र के फुहार की एक बूंद से इन्द्र आदि आनन्द वाले होते हैं, एवं जिसके चित्त में अत्यन्त शान्त स्थिति से मुनि आनन्द को प्राप्त कर लेते हैं, एवं जिस नित्य परिपूर्ण सुख में बुद्धि के लीन हो जाने पर आत्मा ब्रह्मवित् नहीं वरन् ब्रह्म ही बन जाता है, ऐसा जो कोई भी होवे देवताओं के अधिपतियों द्वारा भी उसके पैर वन्दनीय होते हैं। अतः वह किसी भी शरीर में क्यों न हो मेरी गुरु-मूर्ति ही है, ऐसा मेरा दृढ़ निश्चय है।

इस प्रकार जीव और ब्रह्म की एकता के प्रतिपादक चारों महावाक्यों का वर्णन करके लक्ष्यार्थ में निष्ठा वाले को गुरु रूप से सिद्ध कर दिया। अब इस प्रकार के ज्ञान का फल निरूपण करते हैं, जिससे साधक में आत्मज्ञान की प्रवृत्ति में रुचि हो सके। जिन इन्द्र, ब्रह्मा, विष्णु, बृहस्पति आदियों को अत्यधिक ऐश्वर्य और सुख वाला माना

जाता है वे भी ज्ञानी की चरण-वन्दना करते हैं। अतः उस शिवयोगी की स्थिति प्राप्त करना सर्वोत्तम साध्य है यह स्फुट है। किंच जिस आनन्द को ज्ञानी प्राप्त करता है उसकी असीमता में देश-काल, वस्तु का व्यवधान नहीं है। श्रुति का तो स्पष्ट कहना है '**एतास्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति**' इस ब्रह्मानन्द की एक मात्रा में ही अन्य सारे प्राणियों के समस्त आनन्द स्थित हैं; ऐसा होने से उस ब्रह्मानन्द की असीमता कल्पनातीत है। इसी से उसे आनन्द का समुद्र कहा जाता है। यहां पर निवृता का अर्थ आनन्द वाले बनना ही है। वस्तुतः छूटना एवं आनन्द एकार्थक ही हैं। भगवान् सर्वज्ञात्म कहते हैं '**यतो यतो निवर्तते ततस्ततो विमुच्यते। निवर्तनात् हि सर्वतो न वेत्ति दुःखमण्वपि**'॥ जिस जिस से निवृत्त होता है उस उस से छूटता है। एवं सर्वतः निवृत्त हो जाने पर अणुमात्र दुःख को भी अनुभव नहीं करता है। चित्त में जब सभी कलन अर्थात् कल्पनायें नितरां अर्थात् पूर्ण रूप से प्रशान्त अर्थात् सकारण नष्ट हो जाती हैं तभी ऐसे चित्त में श्रवण मननशील यति साक्षात् अपरोक्ष रूप से पूर्णाहन्ता की अनुभूति को प्राप्त करता है। ऐसा सुबुद्धिमान् ही मननशील होकर मुक्त होता है। इस प्रकार का नित्य सुख-समुद्र, बुद्धि को भी निर्विकल्प समाधि में लीन कर देने पर ही, उपलब्ध होता है; क्योंकि उस स्थिति में वहाँ जिस आनन्द-समुद्र में बुद्धि गलित हो गई है वही केवल रह जाता है। यह आनन्द-समुद्र चूंकि कालपरिच्छेद से रहित है इसलिये इसे नित्य सुखाम्बोधि कहा है। वस्तुतः तो विषय-जनित सुख वृत्ति के अधीन है अतः क्षणिक है इसीलिये जो सुख विषय जनित नहीं है वह वृत्ति के अनधीन होने के कारण ही नित्य और अपरिच्छिन्न है। यहां गलितधी में धी का अर्थ ब्रह्माकार वृत्ति ही समझना चाहिये क्योंकि वही नित्य सुख-समुद्र में लीन होने की योग्यता वाली है। जब तक यह वृत्ति है तभी तक ब्रह्मवित् है। जब यह वृत्ति भी नहीं रही तो वृत्ति के समाप्त हो जाने पर केवल ब्रह्म ही रह जाता है। वृत्ति के अधीन ही वेद्यता और वेदितृता है। अतः वृत्ति के समाप्त होने पर दोनों

के न रह जाने से न वृत्ति के विषय रूप से ब्रह्म है न आश्रय रूप से ब्रह्मज्ञानी। आश्रय विषय-हीन निर्विभाग चिति ही अवशिष्ट रह जाती है। कश्चित् के द्वारा इस प्रकार की स्थिति अत्यन्त दुर्लभ बताई जा रही है। ऐसा शिव योगी इन्द्रादि देवताओं का भी स्वामी है एवं उनका भी पूज्य है यह सर्व वेदान्त सिद्धान्त है।

इस प्रकार भगवान् शंकर के अपना निश्चय प्रकट करने पर वह चाण्डाल उन्हें चाण्डाल रूप में न दिख करके साम्बसदाशिव के रूप में प्रतीत हुआ। वस्तुतः तो समग्र विश्व ही अन्त्यज है, क्योंकि पंचमहाभूतों के पंचीकरण होने के बाद सबसे अन्त में उत्पन्न हुआ है। ज्ञान की पूर्णावस्था में सर्वत्र शिव दृष्टि हो जाने से इस अन्त्यज उपाधि में भी, साधनावस्था में वैराग्य के लिये जो अनात्म निवृत्ति का उपदेश था वह भी समाप्त होकर के, केवल शिव-तनु ही सर्वत्र लक्षित होता है, यही इस कथा का चरम रहस्य है। सभी वेदों के महावाक्यों का संक्षेप में विचार आ जाने से एवं स्वानुभूति के उपोद्बल से यह ग्रन्थ विवेकियों को संक्षेप में आत्मज्ञान कराने में समर्थ है। इसीलिये इसे मनीषा-पंचक कहा गया है।